□ प्रो० दलसुख भाई मालवणिया

[निदेशक—ला० द० भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद। भारतीय दर्शनों के प्रकांड विद्वान, जैनविद्या के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिलब्ध मनीषी]

शून्यवाद और स्याद्वाद

□

भारतीय दार्शनिकों में यदि किसी वाद के विषय में भ्रान्ति हुई है तो सर्वप्रथम शून्यवाद के विषय में और बाद में स्याद्वाद के विषय में। शून्यवाद के लिए भ्रमजनक उस वाद का 'शून्य' शब्द ही हुआ है और स्याद्वाद के लिए 'स्यात्' शब्द। केवल इन शब्दों को ही पकड़कर दार्शनिकों ने इन दोनों वादों का खंडन किया है। शून्यवादी का खंडन परम नास्तिक मानकर और स्याद्वादी का खंडन संशयवादी मानकर किया गया है। इसमें दोनों के प्रति अन्याय हुआ है। दार्शनिकों ने दोनों वादों का गहराई से अध्ययन नहीं किया। परिणामतः जो कुछ खंडन हुआ उसमें दम नहीं है, तर्क नहीं है, केवल अटकलबाजी है। शून्यवादी उच्छेदवादी तो है नहीं, फिर नास्तिक कैसे है? नास्तिक के लिए तो परमार्थ कुछ नहीं है जबकि शून्यवाद में परमार्थ है।[1] स्याद्वाद के प्रति आक्षेप है कि यह संशयवाद है किन्तु वस्तुतः वैसा नहीं है। यह तो स्याद्वाद के किसी भी ग्रन्थ को देखकर निर्णय किया जा सकता है। शंकर जैसे विद्वान् ने जब से इन दोनों वादों का खंडन साम्प्रदायिक दृष्टि अथवा स्थूल दृष्टि से किया है तब से प्रायः सभी दार्शनिकों ने उनका ही अनुसरण किया है, मूलग्रन्थों को देखने की किसी ने तकलीफ नहीं की। परिणाम यह है कि भारतीय दर्शन की दोनों विशिष्ट धारा का विशेष परिचय विद्वानों को हुआ नहीं है।

भगवान बुद्ध ने अपने समय के उपनिषद्-संमत शाश्वतवाद और नास्तिक-संमत उच्छेदवाद दोनों को अस्वीकृत करके अपने प्रतीत्यसमुत्पादवाद की स्थापना की। स्पष्ट है कि यह वाद एक नया वाद है—उसमें कार्यकारण के संबंध के विषय में एक नई विचारणा अपनाई गई है।[2] भगवान बुद्ध अपने को विभज्यवादी कहते हैं, एकांशवादी नहीं।[3] भगवान महावीर ने भी भिक्षुओं के लिए विभज्यवाद अपनाने का आदेश दिया है।[4] उसी विभज्यवाद का रूपान्तर अनेकान्तवाद

---

१ यद्यभावात्मिका शून्यता कथं परमार्थ उच्यते? परमज्ञानविषयत्वात्। अनित्यता वत् न तु वस्तुत्वात्। —मध्यान्त विभाग० टी० पृ० ३६

तथता भूतकोटिश्चानिमित्तं परमार्थता।
धर्मधातुश्च पर्यायाः शून्यतायाः समासतः॥ —मध्यान्त वि० १.१४

टीकाकार स्थिरमति ने—अद्वयता, अविकल्पक धातुः, धर्मता, अनभिलाप्यता, निरोध, असंस्कृत, निर्वाण को भी पर्याय बताया है—टी० पृ० ४१

२ देखें—प्रमाणमीमांसा, प्रस्तावना, पृ० ६ (सिंघी)

३ मज्झिम० सु० ९९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या स्याद्वाद है। विभज्यवाद अपेक्षा पर आधारित है और स्याद्वाद भी अपेक्षावाद पर आधारित है। ये दोनों वाद सापेक्षवाद हैं और प्रतीत्यसमुत्पादवाद का तात्पर्य भी सापेक्षवाद में है। इस प्रकार एक हद तक दोनों वादों का साम्य स्पष्ट है। फिर भी इन दोनों वादों का जो विकास हुआ है उसमें दो दिशायें स्पष्ट हैं। बौद्धों में प्रतीत्यसमुत्पादवाद के सिद्धान्त की निष्पत्ति शून्यवाद तक हुई है जो निषेधप्रधान है[५] और जैनों में नयवाद का विकास हुआ जो विधिप्रधान है। निषेधप्रधान कहने का तात्पर्य नास्तिकवाद से नहीं है—यह तो स्पष्ट कर दिया गया है। तो उसका तात्पर्य इतना है कि भगवान् बुद्ध ने शाश्वत और विच्छेद इन दोनों का निषेध किया और अपने मार्ग को—मध्यममार्ग कहा। जबकि भ० महावीर ने शाश्वत और उच्छेद इन दोनों को अपेक्षा भेद से स्वीकृत करके विधिमार्ग अपनाया। स्याद्वाद और शून्यवाद में एकान्त उच्छेद और एकान्त विनाश समान रूप से असंमत है। एक की भाषा में निषेध प्रधान प्रयोग है जब कि दूसरे की भाषा में विधि प्रधान प्रयोग देखा जाता है।[६]

भगवान् बुद्ध ने तो मध्यममार्ग कहकर छोड़ दिया था। किन्तु नागार्जुन ने प्रतीत्यसमुत्पादवाद और शून्य का समीकरण[७] किया जो प्रयोग की दृष्टि से भ्रामक सिद्ध हुआ। भ० महावीर ने अपेक्षाभेद से विरोधी मन्तव्यों को स्वीकार किया था और अपेक्षासूचक शब्द 'स्यात्' रखा था और यही शब्द दार्शनिकों में भ्रम पैदा करने में कारण हुआ। परिणाम स्पष्ट है कि भाषा की अपनी मर्यादा है जिसके कारण शून्यवाद नास्तिक समझा गया और स्याद्वाद संशयवाद।[८]

भाषा की इस मर्यादा को लक्ष्य करके ही तो कहा गया है कि **'परमार्थो हि आर्याणां तुष्णींभावः'** (मध्य० वृ० पृ० १९)। फिर भी यदि शून्यवादी अपना मंतव्य भाषा के द्वारा ही व्यक्त करता है तो उसके पीछे दृष्टि यह है कि—

नान्यया भाषया म्लेच्छः शक्यो ग्राहयितुं यथा।
न लौकिकमृते लोकः शक्यो ग्राहयितुं तथा।। —चतुःशतक ८।१९

यही बात जैन आचार्य कुन्दकुन्द ने भी कही है—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं।। —समयसार ८

शून्यवाद की स्थापना में युक्ति और आगम दोनों का अवलम्बन है यह स्पष्टीकरण चन्द्रकीर्ति ने किया है—**"आचार्यो युक्त्यागमाभ्यां संशयमिथ्याज्ञानापाकरणार्थं शास्त्रमिदमारब्धवान्"**—(माध्यम क० पृ० १३) यही बात आचार्य समन्तभद्र ने भी अनेकान्तवाद के समर्थन में लिखी गई आप्तमीमांसा में कही है—

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते।। —आप्तमी० ६

---

४ सूत्रकृतांग १-१४-२२। और भी चर्चा के लिए देखें न्याया० प्रस्तावना, पृ० १२ (सिंघी)

५ प्रतीत्यसमुत्पादवाद के नागार्जुन ने जो विशेषण दिये हैं—वे हैं—अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्। अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम्। यः प्रतीत्यसमुत्पादं······ —माध्य० का० १

६ विस्तृत चर्चा के लिए देखें—न्याया० प्रस्तावना, पृ० १४

७ यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।—माध्य० २४-१८।

८ स्याद्वाद को संशयवाद कहने वाले केवल शंकर ही नहीं। दशवै० अगस्त्यचूर्णि में भी ऐसा ही कहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्याद्वादी और शून्यवादी दोनों ने यह स्वीकार किया है कि यदि एक ही भाव का परमार्थ स्वरूप समझ लिया जाये तो सभी भावों का परमार्थ स्वरूप समझ लिया गया ऐसा मानना चाहिए।

आचारांग में कहा है—

"जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ"

—३, ४, १.

अन्यत्र यह भी कहा है—

"एको भावः सर्वथा येन दृष्टः, सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः, एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः॥

—स्याद्वाद मं० पृ० ११५

ऐसा ही निरूपण चन्द्रकीर्ति ने भी अनेक उद्धरण देकर किया है। —**यथोक्तम्**

भावस्यैकस्य यो द्रष्टा द्रष्टा सर्वस्य स स्मृतः।
एकस्य शून्यतायैव सैव सर्वस्य शून्यता॥ इत्यादि

—मध्य० वृ० पृ० ५०

दोनों ने व्यवहार और परमार्थ सत्यों को स्वीकार किया है। शून्यवादी संवृति और परमार्थ सत्य से वही बात कहता है जो—जैन ने व्यवहार और निश्चयनय बतला कर की है।

नाना प्रकार के एकान्तवादों को लेकर शून्यवादी चर्चा करता है और इस नतीजे पर आता है कि वस्तु शाश्वत नहीं, उच्छिन्न नहीं, एक नहीं, अनेक नहीं, भाव नहीं, अभाव नहीं।—इत्यादि यहाँ नहीं पक्ष का स्वीकार है। जब कि स्याद्वादी के मन में उन एकान्तों के विषय में अभिप्राय है कि वस्तु शाश्वत भी है, अशाश्वत भी है, एक भी है, अनेक भी है, भाव भी है, अभाव भी है—इस प्रकार शून्यवाद और स्याद्वाद में **नहीं** और **भी** को लेकर विवाद है, जबकि एकान्तवादी **ही** को स्वीकार करते हैं।

मध्यान्त विभाग ग्रन्थ (५-२३-२६) में पन्द्रह प्रकार के अन्त युगलों की चर्चा करके उन सभी का अस्वीकार करके मध्यमप्रतिपत् का—निर्विकल्पक ज्ञान को स्वीकार किया गया है उनमें से कुछ ये हैं—

(१) शरीर ही आत्मा है यह एक अन्त और शरीर से भिन्न आत्मा है यह दूसरा अन्त;

(२) रूप नित्य है यह एक अन्त और अनित्य है—यह दूसरा। भूतों को नित्य मानने वाले तीर्थिक हैं और अनित्य मानने वाले श्रावकयानवाले हैं।

(३) आत्मा है यह एक अन्त और नैरात्म्य है—यह दूसरा अन्त।

(४) धर्म—चित्त भूत-सत् है यह एक अन्त और अभूत है यह दूसरा अन्त।

(५) अकुशल धर्म को संक्लेश कहना यह विपक्षान्त है और कुशल धर्मों को व्यवदान कहना यह प्रतिपक्षान्त है।

(६) पुद्गल—आत्मा और धर्म को अस्ति कहना यह शाश्वतान्त है, और उन्हें नास्ति कहना यह उच्छेदान्त है।

(७) अविद्यादि ग्राह्य-ग्राहक हैं यह एक अन्त और उसका प्रतिपक्ष विद्यादि ग्राह्य-ग्राहक हैं यह दूसरा अन्त। इत्यादि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तात्पर्य यह है कि शून्यवाद में अन्तों की अस्वीकृति और निर्विकल्प भाव का स्वीकार है[६] जबकि स्याद्वाद में इससे उलटा है। इसका अर्थ यह नहीं है कि स्याद्वादी को तत्तद्विकल्पों के दोष का ज्ञान नहीं है। एकान्त में रहा हुआ दोष समान रूप से शून्यवादी और स्याद्वादी देखते हैं। किन्तु दोष को देखकर अन्त का केवल अस्वीकार करना यह स्याद्वादी को मंजूर नहीं। यह उस अन्त के गुणों को भी देखता है और उसी दृष्टि से उसका स्वीकार भी करता है। निरपेक्ष अन्त को निरस्त करके वह सापेक्ष अन्त का स्वीकार करता है। इस प्रक्रिया को विशद रूप से नयचक्र में रखा गया है।

तर्क दुधारी तलवार है, यह खंडन भी करता है और मंडन भी। आचार्य नागार्जुन ने उसका उपयोग केवल खंडन में ही किया है। दार्शनिक विचारणा के अपने समय तक के प्रमेय और प्रमाण सम्बन्धी मान्यताओं का तर्क के बल से जमकर खंडन ही खंडन किया और शून्यवाद की स्थापना की। जब कि नयचक्र में ऐसी योजना की कि खंडन भी हो और मंडन भी। उसने अपने समय तक के प्रसिद्ध सभी वादों की क्रम से स्थापना की और खंडन भी किया। पूर्व-पूर्ववाद अपने मत का समर्थन करता है और उत्तर-उत्तर वाद पूर्व-पूर्व का खंडन और अंतिम वाद का खंडन प्रथम वाद करता है। इस प्रकार मंडन-खंडन का यह चक्र चलता रहता है। कोई भी वाद अपने आप में पूर्ण नहीं, फिर भी उसमें सत्यांश अवश्य है। यह तथ्य उस ग्रन्थ से फलित किया गया।

नयचक्र में क्रमशः इन वादों की चर्चा है—अज्ञानवाद—उस प्रसंग में प्रत्यक्ष प्रमाण, सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद, अपौरुषेयवाद, विधिवाद आदि की चर्चा की गई है, पुरुषाद्वैतवाद—इस प्रसंग में सत्कार्यवाद आदि की चर्चा है, नियतिवाद, कालवाद, स्वभाववाद, अद्वैतवाद, पुरुष-प्रकृतिवाद, ईश्वरवाद, कर्मवाद, द्रव्य और क्रिया का तादात्म्य, द्रव्य और क्रिया का भेद, सत्ता, समवाय, अपोह, शब्दाद्वैत, ज्ञानवाद, जातिवाद, अवक्तव्यवाद, गुणवाद, निर्हेतुक विकासवाद और स्थितिवाद। स्पष्ट है कि इसमें जैन का अपना विशिष्ट कोई मत नहीं है किन्तु तत्काल के सभी वादों का—मन्तव्यों का सापेक्ष स्वीकार एक न्यायाधीश की तटस्थता से किया गया है। स्याद्वाद की यही विशेषता है जिसे आचार्य जिनभद्र के शब्दों में कहा जाय तो यह है—**"सर्वनयमतान्यप्यमूनि पृथक् परीत्तविषयत्वाद् अप्रमाणम्, एतान्येव संहितानि जिनमतम्, अन्तर्बाह्य-निमित्तसामग्रीमयत्वात्, प्रमाणं चेति।"**

—विशेषा० भा० १५२८।

अर्थात् सभी नयों—मतों का समुदाय ही जिनमत है।

आचार्य सिद्धसेन ने तो कहा था कि जितने भी वचन के मार्ग हैं उतने ही नय हैं—और वे परसमय हैं—(सन्मति० ३-४७) किन्तु जैनदर्शन तो उन परसमय रूप मिथ्यादर्शनों का समूह ही है (वही ३-६९)। उनकी इसी बात को आचार्य जिनभद्र ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

जावंतो वयणपहा तावन्तो व णया वि सद्दातो।
ते चेव य परसमया सम्मत्तं समुदिता सव्वे॥

—विशेषा० २७३६

जब यही नय—नाना मतवाद एक समूह-रूप हो जाते हैं, वे सम्यक् हैं—यही जैनमत है।

---

६ तत्परिवर्जनार्थं मध्यमाप्रतिपद् यदात्मनैरात्म्ययोर्मध्ये निर्विकल्पं ज्ञानम्।

—मध्यान्तविभाग-भाष्य—पृ० १७४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय दर्शन के अखाड़े में जैनदर्शन का प्रवेश देरी से हुआ। इसका फायदा यह हुआ कि जैनाचार्य नाना मतों की निर्बलता और सबलता को देख सके और सभी वादों का समन्वय करने का मार्ग उन्होंने अपनाया। यह उनकी कमजोरी थी या भारतीय प्रजा की भेद में अभेद कर लेने की मूलभूत शक्ति का प्रदर्शन था—यह आप सब महानुभावों के विचार का विषय है। अभी तो इतना संकेत देकर ही मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ।[१०]

---

१० अखिल भारतीय दर्शन परिषद् (१८ वाँ अधिवेशन अहमदाबाद में ता० २७-१२-७३ को हुआ) का उद्घाटन भाषण।

आनन्द-वचनामृत

☐ व्याकरण के अनुसार 'मनस्' शब्द नपुंसक लिंग है। नपुंसक में चंचलता एवं विकलता अधिक होती है। 'मन' की स्थिति की प्रायः ऐसी ही है।

☐ आकाश के असंख्य-असंख्य सभी नक्षत्र सदा गतिशील एवं अस्थिर रहते हैं, किंतु ध्रुव 'तारा' सदा उत्तर दिशा में एक ही स्थान पर स्थिर रहता है, वह 'अमर-नक्षत्र' माना गया है।
ऐसा क्यों ?
शायद इसीलिए कि वह दिग्भ्रांत यात्रियों को सदा निष्कामभाव से दिशा-दर्शन देता रहता है।
जो परमार्थभाव से मार्गदर्शन करता है, वह अमरता का वरण अवश्य ही करेगा।

☐ बंगाल में पाट (जूट) अधिक होता है, हजारों लाखों लोग पाट का व्यापार करते हैं; पाट खरीदते हैं। बाजार में पाट गीला भी आता है और सूखा भी। जो चतुर खरीददार होता है वह कभी गीला पाट नहीं खरीदता चाहे, कितना ही सस्ता मिले। वह कहता है मुझे तो सूखा पाट चाहिए ताकि उसका सही-सही वजन और सही क्वालिटी का पता चले।
इसी प्रकार संसार में जो तत्त्व का जानकार होता है, वह कोरे सुन्दर शब्दों के रूप में भीगा हुआ तत्त्व नहीं पसंद करता है, वह सही चीज देखता है, तभी वह उसका सही वजन और सही भाव का सही मूल्य चुका सकता है।

☐ बाहर की झूठी मिठास और झूठे सौन्दर्य से वस्तु का मूल्य बढ़ता नहीं, गिरता है।

☐ विज्ञान प्रयोगों की बैसाखी पर चलता है, धर्म अनुभूतियों के परों पर उड़ता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org